

श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध 3 अध्याय 7: विदुर के प्रश्न

13 September 2026

🙏 पाठ से पहले एक निवेदन

श्रीमद्भागवत महापुराण के ये अध्यायवार सार गीता प्रेस भागवत को मुख्य आधार मानकर तैयार किए गए हैं। ये भागवत के अध्ययन में सहायक हैं, मूल ग्रंथ का स्थान नहीं ले सकते।

अध्ययन का मुख्य और अनुशंसित मार्ग गीता प्रेस की भागवत पुस्तक से सीधा पाठ है। यात्रा में, घर से दूर, या जब पुस्तक पास न हो, तब निरंतर अध्ययन, पुनरावृत्ति और समझ के लिए इन सारों का सहारा लिया जा सकता है।



मुक्त आत्मा भला बन्धन में क्यों पड़े? अपरिवर्तनीय परमेश्वर क्रीड़ा करते हुए भला कैसे प्रतीत हों? इस अध्याय में विदुर की शंकाएँ उस द्वार के रूप में परिणत होती हैं जिससे मैत्रेय सृष्टि की सम्पूर्ण संरचना खोलते हैं — और प्रश्नों की एक लम्बी, गहन शृंखला जन्म लेती है, जिसका उत्तर तृतीय स्कन्ध के आगामी अध्याय-दर-अध्याय देंगे।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीमद्भागवतम् विज्जम में आपका स्वागत है — श्रीमद्भागवत महापुराण की पावन कथाओं और शिक्षाओं की एक भक्तिपूर्ण यात्रा। पिछला अध्याय मैत्रेय द्वारा विराट पुरुष के भव्य वर्णन के साथ समाप्त हुआ था — वह पुरुष जिनके मुख से वेद तथा ब्राह्मण, जिनकी भुजाओं से क्षत्रिय, जिनकी जाँघों से वैश्य, तथा जिनके चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए, और जिनकी महिमा को स्वयं ब्रह्मा भी सहस्र दिव्य वर्षों के चिन्तन के पश्चात् भी न जान सके। विदुर यह सब सुनते हुए, मन को शान्त नहीं वरन् और भी तीक्ष्ण करते गए हैं। इस सप्तम अध्याय में वे वही करते हैं जिसे भागवत बार-बार पुरस्कृत करता है: वे जो नहीं समझते, उसे समझने का दिखावा नहीं करते। वे प्रश्न पूछते हैं। और जो प्रश्न वे पूछते हैं — पहले अपरिवर्तनीय, आत्म-तृप्त परमेश्वर के दुःख या क्रीड़ा में प्रतीत होने की उलझन, और फिर, जब वह उलझन सुलझ जाती है, सृष्टि, ब्रह्माण्ड-विज्ञान, धर्म, जीवन के चार लक्ष्यों तथा आत्मा के स्वरूप पर चालीस प्रश्नों की एक असाधारण शृंखला — वे तृतीय स्कन्ध के शेष भाग की रूपरेखा बन जाते हैं।

अध्याय-परिचय

- शास्त्र: श्रीमद्भागवत महापुराण
- स्कन्ध: 3 (तृतीय स्कन्ध)
- अध्याय: 7 (सप्तम अध्याय)
- अध्याय-शीर्षक: विदुर के प्रश्न
- मुख्य वक्ता: विदुर तथा मैत्रेय, संवाद में — यह सम्पूर्ण कथा श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा राजा परीक्षित को, तथा सूत गोस्वामी द्वारा ऋषि शौनक एवं नैमिषारण्य की सभा को सुनाई गई
- मुख्य श्रोता: राजा परीक्षित (कथा के व्यापक ढाँचे में); विदुर (संवाद के भीतर)
- मुख्य स्थल: वह आश्रम जहाँ विदुर, यमुना के तट और उद्धव के साथ को छोड़कर, ऋषि मैत्रेय के चरणों में आ बैठे हैं
- मुख्य विषय: विदुर की यह दार्शनिक शंका कि अपरिवर्तनीय, आत्म-तृप्त भगवान् माया से बद्ध या क्रीडारत कैसे प्रतीत हो सकते हैं; माया तथा भक्ति की प्रकृति के माध्यम से मैत्रेय द्वारा उस शंका का समाधान; तथा सृष्टि, ब्रह्माण्ड-विज्ञान, धर्म एवं मोक्ष पर विदुर के आगे के व्यवस्थित प्रश्नों की सूची
- मुख्य श्लोक-सीमा: स्कन्ध 3, अध्याय 7, श्लोक 1-42
- मूल संस्करण: गीता प्रेस श्रीमद्भागवत महापुराण

एक शिष्य की ईमानदार शंका

श्रीशुकदेव गोस्वामी दृश्य को सरलता से प्रस्तुत करते हैं: जब मैत्रेय इस प्रकार बोल रहे थे, तब विदुर — जिन्हें यहाँ “बुधः”, अर्थात् विद्वान् या जाग्रत, कहा गया है — ने उनसे एक प्रश्न पूछा, और यह इस प्रकार किया कि ऋषि को अप्रसन्न करने के बजाय प्रसन्न कर दिया। यह विवरण जितना पहली दृष्टि में लगता है उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। विदुर का प्रश्न वस्तुतः मैत्रेय ने अभी जो कहा उसे चुनौती देने जैसा है। फिर भी विदुर इसे सत्य के प्रति ऐसी स्पष्ट भूख और ऐसी विनम्रता के साथ पूछते हैं कि मैत्रेय इसे विरोधाभास के रूप में नहीं, अपितु एक निमन्त्रण के रूप में ग्रहण करते हैं।

विदुर उवाच । ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः ।

लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ॥ २ ॥

vidura uvāca / brahman katham bhagavataś cin-mātrasyāvikāriṇaḥ līlayā cāpi yujyeraṇ nirguṇasya guṇāḥ kriyāḥ

अर्थ: विदुर ने पूछा: हे पूज्य मुनि, वह भगवान् जो शुद्ध चैतन्य-स्वरूप, अविकारी तथा गुणातीत (निरपेक्ष) हैं, वे भला क्रीड़ा में भी गुणों तथा क्रिया से कैसे युक्त हो सकते हैं? (स्कन्ध 3, अध्याय 7, श्लोक 2)

विदुर इस बिन्दु को एक साधारण दृष्टान्त से और स्पष्ट करते हैं। एक बालक इसलिए खेलता है क्योंकि उसमें सुख की लालसा तथा किसी अन्य — साथी, खिलौना या खेल — के साथ खेलने की इच्छा होती है। परन्तु भगवान् तो सर्वत्र शास्त्रों में स्वयं में पूर्ण, सदा अद्वितीय तथा किसी वस्तु की कामना न करने वाले वर्णित हैं। तो ऐसे परमेश्वर को क्रीड़ा की क्या आवश्यकता हो सकती है? इसके पश्चात् विदुर के प्रश्न शीघ्रता से आते हैं, प्रत्येक इस विरोधाभास को और तीक्ष्ण करता है: यदि यह भगवान् की अपनी माया — सत्त्व, रज तथा तम इन तीन गुणों के परस्पर सम्बन्ध — के द्वारा है कि विश्व की सृष्टि, पालन तथा अन्ततः संहार होता है, तो भगवान् का वह ज्ञान, जो देश, काल अथवा किसी परिस्थिति से कभी आच्छादित नहीं होता, उसी माया से कैसे स्पर्शित हो सकता है? और यदि भगवान् ही समस्त शरीरों में भोक्ता के रूप में विद्यमान हैं, तो उनके लिए दुर्भाग्य कैसे हो सकता है, वे कर्मों के फल से पीड़ित कैसे हो सकते हैं?

विदुर स्वयं इस उलझन को नहीं सुलझाते। वे अन्त में एक प्रार्थना-सी स्वीकारोक्ति करते हैं: उनका मन, वे कहते हैं, इस अज्ञान के दलदल में फँसा हुआ अत्यन्त विचलित है, और वे मैत्रेय से सीधे इस भ्रम को दूर करने का निवेदन करते हैं। यह एक छोटा किन्तु सारगर्भित क्षण है — यह स्मरण कराता है कि इस परम्परा में, अज्ञान की सच्ची स्वीकृति स्वयं वह द्वार है जिससे वास्तविक शिक्षा सम्भव होती है।



विद्वान् होते हुए भी विदुर विनम्रतापूर्वक अपनी उलझन स्वीकार करते हैं और मैत्रेय से पूछते हैं कि अपरिवर्तनीय, आत्म-तृप्त भगवान् माया, क्रिया तथा क्रीड़ा से स्पर्शित कैसे प्रतीत हो सकते हैं (श्लोक 2-7)।

मैत्रेय का उत्तर: बन्धन का स्वप्न

श्रीशुक मैत्रेय के उत्तर देने से पहले यह उल्लेख करते हैं कि ऋषि “सर्वथा अहंकार-रहित” थे तथा “मानो मुस्कराते हुए” उत्तर दिया — यह उस गुरु का चित्र है जो प्रश्न किए जाने पर अपमानित अनुभव नहीं करता, वरन् पुनः भगवान् की चर्चा करने के अवसर का स्वागत करता है। मैत्रेय का उत्तर एक चौंका देने वाली स्वीकृति से आरम्भ होता है: यह कि स्वतन्त्र, प्रभुतासम्पन्न आत्मा दुःखी हो और बन्धन में पड़े, यह तर्कसंगत रूप से असम्भव है; फिर भी, वे कहते हैं, यही भगवान् की अपनी माया का कार्य है।

मैत्रेय उवाच । सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते ।

ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥ ९ ॥

maitreya uvāca / seyaṁ bhagavato māyā yan nayena virudhyate īśvarasya vimuktasya kārpaṇyam uta bandhanam

अर्थ: मैत्रेय ने कहा: यह कि प्रकृति के स्वामी तथा सदा मुक्त आत्मा दुःखी होकर बन्धन में पड़े, यह सर्वथा तर्क के विरुद्ध है; फिर भी यही भगवान् की माया है। (स्कन्ध 3, अध्याय 7, श्लोक 9)

इस बात को स्पष्ट करने के लिए मैत्रेय भागवत के इस भाग के दो अत्यन्त स्मरणीय दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। पहला है कटे हुए सिर के स्वप्न का: एक सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में देख सकता है कि उसका अपना सिर काट दिया गया है — और उस दृश्य का भय उसे पूर्णतः वास्तविक प्रतीत होता है — यद्यपि, जाग्रत सत्य में, उसका सिर वहीं है जहाँ सदा था। मैत्रेय कहते हैं कि जीव के बन्धन का बोध ठीक इसी प्रकार का स्वप्न है: स्पष्ट, पीड़ादायक, तथा आत्मा के वास्तविक स्वरूप में सर्वथा निराधार।

दूसरा दृष्टान्त उतना ही सटीक किन्तु अधिक सौम्य है। जब वायु के प्रवाह से तालाब का जल कम्पित हो, तो उसमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को देखिए: चन्द्रमा स्वयं काँपता, लहराता तथा टूटता प्रतीत होता है — यद्यपि वह गति पूर्णतः जल की होती है, चन्द्रमा की नहीं। ठीक उसी प्रकार, मैत्रेय समझाते हैं, शरीर के गुण — जन्म, मृत्यु, भूख, शोक तथा शेष सब — वास्तव में आत्मा के नहीं होते, यद्यपि आत्मा, शरीर के साथ अपनी पहचान बना लेने के कारण, उन्हें अपना मानकर वहन करती प्रतीत होती है।

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः ।

दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः ॥ ११ ॥

yathā jale candramasaḥ kampādis tat-kṛto guṇaḥ dṛśyate ‘sann api draṣṭur ātmano ‘nātmano guṇaḥ

अर्थ: पुनः, जैसे जल में ही निहित कम्पन आदि गुण जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा में दिखाई देते हैं, यद्यपि वे वास्तव में वहाँ नहीं होते, वैसे ही शरीर के गुण, जो आत्मा नहीं हैं, उस आत्मा में प्रतीत होते हैं जिसने स्वयं को शरीर से एकाकार कर लिया है। (स्कन्ध 3, अध्याय 7, श्लोक 11)

तो फिर यह मिथ्या पहचान किससे दूर होती है? मैत्रेय स्पष्ट कहते हैं: यह किसी शुष्क तर्क-वितर्क से नहीं, अपितु निवृत्ति-धर्म के मार्ग पर चलते हुए भगवद्भक्ति के अभ्यास से घटती है, और यह भक्ति भी केवल भगवान् वासुदेव की कृपा से ही सम्भव हो पाती है।

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया ।

भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥ १२ ॥

sa vai nivṛtti-dharmeṇa vāsudevānukampayā bhagavad-bhakti-yogena tirodhatte śanair iha

अर्थ: मैत्रेय कहते हैं कि यह मिथ्या पहचान इस जीवन में केवल निवृत्ति-धर्म के अनुसार की गई भक्ति-योग की साधना से, और केवल भगवान् वासुदेव की कृपा से, धीरे-धीरे लुप्त होती है। (स्कन्ध 3, अध्याय 7, श्लोक 12)

जब इन्द्रियाँ अपने विषयों से हटकर पूर्णतः श्रीहरि — परम आत्मा तथा साक्षी — में लीन हो जाती हैं, तब आत्मा की समस्त चंचलता (आसक्ति तथा विराग के रूप में) वैसे ही शान्त हो जाती है जैसे गहरी निद्रा में मग्न व्यक्ति की। इसके पश्चात् मैत्रेय स्मरण की शक्ति के विषय में एक और भी साहसिक घोषणा करते हैं — भगवान् की महिमा का उच्चारण तथा श्रवण अकेला ही जीव को असीम कष्टों से मुक्त कर सकता है, ऐसा उपाय जिससे बढ़कर कुछ खोजने की आवश्यकता ही शेष नहीं रहती।

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारे: ।

किं वा पुनस्तच्चरणारविन्दपरागसेवारतिरात्मलब्धा ॥ १४ ॥

*aśeṣa-saṅkleśa-śamaṁ vidhatte guṇānuvāda-śravaṇaṁ murāreḥ kiṁ vā punas tac-
caraṇāravinda- parāga-sevā-ratir ātma-labdhā*

अर्थ: श्रीकृष्ण — मुर-दैत्य के संहारक — के गुणों का श्रवण-कीर्तन करना मात्र ही समस्त प्रकार के क्लेशों को पूर्णतः समाप्त कर देता है — तो फिर उस हृदय के फल के विषय में क्या कहा जाए जिसमें स्वतः ही उनके चरण-कमलों की सुगन्धित रज की सेवा के प्रति सच्ची अभिलाषा उत्पन्न हो गई हो? (स्कन्ध 3, अध्याय 7, श्लोक 14)

यहीं मैत्रेय के सम्पूर्ण उत्तर का सूक्ष्म किन्तु निर्णायक मोड़ है, और इसमें माया के प्रश्न से भी आगे तक पहुँचने वाला एक सन्देश छिपा है। विदुर ने एक दार्शनिक का प्रश्न पूछा था — अपरिवर्तनीय ब्रह्म भला क्रिया से कैसे स्पर्शित हो सकता है? — और मैत्रेय चाहते तो प्रकृति तथा त्रिगुण के तर्क को अनन्त काल तक विस्तारित करते हुए केवल शुद्ध तत्त्व-ज्ञान से ही उत्तर देते रहते। इसके बजाय वे इसी जिज्ञासा को स्मरण तथा सेवा की दिशा में मोड़ देते हैं: सन्देह का समाधान मुख्यतः तर्क से नहीं, अपितु भक्ति के अभ्यास से होता है, और भक्ति का सबसे सरल रूप — केवल भगवान् की महिमा का बखान तथा श्रवण — ही असीमित दुःखों को समाप्त करने के लिए पर्याप्त घोषित किया गया है। इस अध्याय के सघन दर्शन के नीचे छिपा यह सूक्ष्म सन्देश यही है कि श्रीकृष्ण शिष्य की सबसे कठिन जिज्ञासा को भी अन्ततः अपने ही चरण-कमलों तक पहुँचा देते हैं — भागवत की अपनी दृष्टि में ज्ञान तभी पूर्ण होता है जब वह भक्ति में परिणत हो जाए।

विदुर की शान्ति, और एक गहरी अभिलाषा

विदुर पर इसका प्रभाव तत्काल तथा पूर्ण होता है। वे मैत्रेय से कहते हैं कि उनकी शंकाएँ ऋषि के तर्कसंगत विवेचन की “तलवार से उखाड़ फेंकी” गई हैं — शिक्षा को एक ऐसी तलवार के रूप में चित्रित करने वाला यह प्रभावशाली बिम्ब है जो केवल भ्रम को शान्त नहीं करती, वरन् उसे स्पष्टतः काट डालती है। अब उस विरोधाभास के दोनों पक्ष उनके मन में एक साथ स्पष्ट रूप से बैठ गए हैं: भगवान् की अपनी अखण्ड

स्वतन्त्रता, तथा जीव का मात्र आभासी बन्धन — एक ऐसा बन्धन जिसका उतना ही वास्तविक आधार है जितना कि स्वयं इस विश्व का भगवान् की माया के अतिरिक्त कोई आधार है।

इस स्पष्टता से विदुर एक और, गहन अवलोकन करते हैं, जो साधारण मानव-जीवन की रचना के विषय में है: वह व्यक्ति जो पूर्णतः, अचिन्तनशील रूप से अज्ञानी है, तथा वह जो पूर्णतः ईश्वर-साक्षात्कार को प्राप्त कर मन की पहुँच से परे चला गया है — दोनों ही इस संसार में सुखपूर्वक जीवन बिताते हैं। यह वह व्यक्ति है जो इन दोनों के बीच फँसा है — पर्याप्त सजग कि सन्देह करे, किन्तु पर्याप्त जाग्रत नहीं कि जान सके — जो कष्ट भोगता है।

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।

तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥ १७ ॥

yaś ca mūḍhatamo loke yaś ca buddheḥ param gataḥ tāv ubhau sukham edhete kliśyaty antarito janah

अर्थ: जो संसार में अत्यन्त मूढ़ है और जो बुद्धि की सीमा से परे जाकर आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त कर चुका है, वे दोनों ही सुखपूर्वक जीवन बिताते हैं; जबकि जो इन दोनों के बीच खड़ा है, वह दुःख भोगता है। (स्कन्ध 3, अध्याय 7, श्लोक 17)

अब यह समझ लेने के पश्चात् कि यह भौतिक संसार, यद्यपि वास्तविक प्रतीत होता है, वस्तुतः वास्तविक नहीं है, विदुर अपना संकल्प व्यक्त करते हैं: मैत्रेय के ही चरणों की सेवा से वे इस अन्तिम, सूक्ष्म भ्रम को भी दूर कर देंगे। वह सेवा, वे कहते हैं, उस सच्चे उत्सव का द्वार खोलती है — अविनाशी भगवान्, मधु-दैत्य के संहारक, के चरणों के प्रति गहन भक्ति, जो जन्म-मृत्यु की पीड़ा को सदा के लिए समाप्त कर देती है। और वे एक और विनम्र बात जोड़ते हैं: भगवान् विष्णु के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि-स्वरूप उनके भक्तों की मण्डली में स्थान पाना और उनकी सेवा करना आसान नहीं है, क्योंकि उसी मण्डली में देवगणों से भी वन्दित प्रभु का अखण्ड कीर्तन निरन्तर गूँजता रहता है — यह सौभाग्य केवल पर्याप्त तपस्या करने वालों को ही सुलभ होता है, अल्प तप वालों को नहीं।

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु ।

यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः ॥ २० ॥

durāpā hy alpa-tapasaḥ sevā vaikuṇṭha-vartmasu yatropagīyate nityam deva-devo janārdanaḥ

अर्थ: भगवान् के भक्तों की सेवा — जो भगवान् विष्णु के जीवन्त निकट-मार्ग हैं, तथा जिनकी संगति में देवताओं द्वारा भी पूजित भगवान् जनार्दन का सतत गुणगान होता है — अल्प तपस्या करने वालों के लिए सहज प्राप्य नहीं है। (स्कन्ध 3, अध्याय 7, श्लोक 20)



मैत्रेय आत्मा के मात्र आभासी बन्धन को दो प्रचलित दृष्टान्तों से समझाते हैं: वह स्वप्नद्रष्टा जो स्वयं को शिरच्छिन्न देखता है यद्यपि उसका सिर अछूता रहता है, तथा वह प्रतिबिम्बित चन्द्रमा जो केवल इसलिए काँपता प्रतीत होता है क्योंकि उसके नीचे का जल काँपता है (श्लोक 9-11)।

आगामी प्रत्येक अध्याय के लिए एक प्रश्न

यहीं से अध्याय का स्वरूप पूर्णतः बदल जाता है। उत्तर प्राप्त कर लेने के पश्चात्, विदुर केवल मैत्रेय को धन्यवाद देकर आगे नहीं बढ़ते। इसके बजाय, मैत्रेय ने पिछले अध्याय के अन्त में विराट पुरुष के विषय में जो पहले ही बताया था — वह पुरुष जिनके सहस्र चरण, भुजाएँ तथा जाँघें हैं, जिनके शरीर से चारों वर्ण तथा समस्त सृष्टि लोक उत्पन्न हुए — उसका सहारा लेते हुए, विदुर निरन्तर क्रम में भागवत के ब्रह्माण्ड-विज्ञान तथा धर्म के पूर्ण विस्तार के लिए प्रश्न पूछना आरम्भ करते हैं। इस सूची की गति तथा विस्तार स्वयं में उल्लेखनीय है: लगभग बीस श्लोकों में ही विदुर लगभग उन सभी प्रमुख विषयों का नाम ले लेते हैं जिनका उत्तर तृतीय स्कन्ध का शेष भाग, तथा वास्तव में भागवत का इससे आगे का बहुत कुछ, एक-एक करके देगा।

वे पहले उस विराट पुरुष की अभिव्यक्तियों के विषय में पूछते हैं — ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न प्रजापति, सृष्टि प्राणियों के मुख्य वर्ग तथा उनके उपविभाग, तथा वह क्रम जिसमें स्वायम्भुव आदि चौदह मनु उत्पन्न हुए, जो प्रत्येक एक सम्पूर्ण मन्वन्तर के अधिपति हैं, साथ ही उनके अनेक वंशजों की वंश-परम्परा तथा कर्म। वे पृथ्वी के ऊपर तथा नीचे स्थित लोकों की सापेक्ष स्थिति एवं आयाम, तथा स्वयं पार्थिव क्षेत्र के विषय में पूछते हैं, साथ ही उस विस्तृत प्रक्रिया के विषय में जिससे प्रत्येक प्रकार का जीव — गर्भज, अण्डज, स्वेदज, तथा भूमि से अंकुरित — अस्तित्व में आता है। वे उस भगवान् के गौरवशाली कार्यों के विषय में भी पूछते हैं, जो सृष्टि, पालन तथा संहार से सम्बन्धित हैं, तथा जो प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के रूप में स्वयं को प्रकट करते हैं।

पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वा परस्य च ।

ज्ञानं च नैगमं यत्तद्गुरुशिष्यप्रयोजनम् ॥ ३८ ॥

puruṣasya ca saṁsthānaṁ svarūpaṁ vā parasya ca jñānaṁ ca naigamaṁ yat tad guru-śiṣya-prayojanam

अर्थ: जीव (देहधारी आत्मा) का वास्तविक स्वरूप तथा परमेश्वर का सारभूत स्वरूप क्या है? उपनिषदों द्वारा सिखाया गया ज्ञान क्या है, तथा गुरु का शिष्य के लिए और शिष्य का गुरु के लिए क्या प्रयोजन है? (स्कन्ध 3, अध्याय 7, श्लोक 38)

ब्रह्माण्ड-विज्ञान से विदुर समाज तथा उसकी संरचना की ओर बढ़ते हैं: बाह्य चिह्न, आचरण तथा स्वभाव के आधार पर मानवता का चार वर्णों तथा चार आश्रमों में विभाजन; महान् ऋषियों का जन्म तथा कर्म; वेदों के विभाग; यज्ञ के विस्तृत विवरण; निष्काम कर्म, संन्यास, तथा प्रकृति एवं पुरुष के बीच विवेकपूर्ण ज्ञान के मार्ग; भगवान् द्वारा नारद मुनि को सिखाया गया वैष्णव पाञ्चरात्र सिद्धान्त; विधर्मी मतों के प्रसार से उत्पन्न भ्रम; तथा पिता से उच्च वर्ण की माता से उत्पन्न सन्तानों का विचित्र मामला भी। वे उसी सौँस में यह भी पूछते हैं — धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष, इन चार पारम्परिक पुरुषार्थों को प्राप्त करने के साधनों के विषय में, बिना एक-दूसरे को क्षति पहुँचाए; कृषि, वाणिज्य, न्याय-प्रशासन तथा वेदाध्ययन के विषय में; दिवंगत पूर्वजों के लिए किए जाने वाले श्राद्ध की विधि तथा स्वयं पितरों की उत्पत्ति के विषय में; काल के विभागों को निर्धारित करने वाले ग्रहों, नक्षत्रों तथा अन्य तारों की स्थिति के विषय में; तथा दान, तपस्या, यज्ञ एवं कुएँ, सड़कें, मन्दिर, उद्यान जैसे सार्वजनिक हित के कार्यों के फल के विषय में — इस श्रृंखला को वे विदेश में रहने वाले व्यक्ति तथा विपरीत परिस्थिति में पड़े व्यक्ति के कर्तव्यों के विषय में एक व्यावहारिक चिन्ता के साथ समाप्त करते हैं।



मैत्रेय द्वारा पूर्व में वर्णित सहस्र-अंगधारी विराट पुरुष के आधार पर, विदुर प्रजापतियों, चौदह मनुओं, लोकों की संरचना तथा प्रत्येक प्रकार के जीव की उत्पत्ति के विषय में पूछते हैं (श्लोक 21-31)।

समस्त प्रश्नों के भीतर छिपा हुआ प्रश्न

विदुर की सूची, अपने असाधारण विस्तार के बावजूद, बार-बार एक ही केन्द्र की ओर लौटती है। वे पूछते हैं कि किन साधनों से भगवान् श्रीकृष्ण — जनार्दन, स्वयं पुण्य के स्रोत — प्रसन्न होते हैं, तथा किस प्रकार के लोग उनकी कृपा जीत सकते हैं, साथ ही मैत्रेय की करुणा के प्रति एक कोमल अपील जोड़ते हैं: दयालु गुरु, वे कहते हैं, अपने समर्पित शिष्यों तथा पुत्रों को वह भी बता देते हैं जो उन्होंने पूछने के विषय में सोचा भी न हो।

येन वा भगवांस्तुष्येद्धर्मयोनिर्जनार्दनः ।

सम्प्रसीदति वा येषामेतदाख्याहि मेऽनघ ॥ ३५ ॥

yena vā bhagavāṁs tuṣyed dharma-yonir janārdanaḥ samprasīdati vā yeṣām etad ākhyāhi me 'nagha

अर्थ: हे निष्पाप मैत्रेय, यह भी बताइए कि किन साधनों से पुण्य के स्रोत भगवान् श्रीकृष्ण (जनार्दन) प्रसन्न किए जा सकते हैं, तथा किस प्रकार के लोग उनकी कृपा प्राप्त कर पाते हैं। (स्कन्ध 3, अध्याय 7, श्लोक 35)

वे पूछते हैं कि विश्व के प्रलय के समय भौतिक तत्त्व किस प्रकार अपने मूल कारण, प्रकृति, में लौटते हैं, तथा प्रलय के समय भी कौन उनकी सेवा में रहता है, और कौन उनके योगनिद्रा में लीन रहते समय उनमें विलीन हो जाता है। वे, उन श्लोकों में जो पहले कहे गए सब कुछ को समेट लेते हैं, जीव के वास्तविक स्वरूप तथा परमेश्वर के सारभूत स्वरूप, उपनिषदों द्वारा सिखाए गए ज्ञान, तथा गुरु-शिष्य सम्बन्ध के वास्तविक प्रयोजन के विषय में पूछते हैं — और फिर, इतना सब ज्ञान माँग लेने के पश्चात्, वे इससे भी अधिक व्यावहारिक प्रश्न पूछते हैं कि ऐसा ज्ञान वस्तुतः कैसे प्राप्त किया जाए, क्योंकि, वे कहते हैं, न तो आध्यात्मिक ज्ञान, न भक्ति, न वैराग्य — इनमें से किसी को भी अकेले प्राप्त नहीं किया जा सकता।

विदुर इस लम्बी जिज्ञासा को अपने उद्देश्य के कथन तथा, विशेष रूप से, सबसे महत्त्वपूर्ण विषय पर एक निर्णय के साथ समाप्त करते हैं। वे कहते हैं कि उन्होंने यह सब केवल श्रीहरि के कार्यों से परिचित होने के लिए पूछा है, स्वयं को अज्ञानी तथा माया से मोहित स्वीकार करते हुए। और फिर वे एक ऐसी दृढ़ मान्यता प्रस्तुत करते हैं जो भागवत के शेष भाग में गूँजती रहेगी: समस्त वेदों का अध्ययन, यज्ञ, तपस्या तथा दान — इन सबको मिलाकर भी वह पुण्य नहीं मिल सकता जो किसी एक जीव को जन्म-मृत्यु के भय से मुक्त कर, ईश्वर के सत्य में शिक्षा देकर, प्राप्त होता है।

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ ।

जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ॥ ४१ ॥

sarve vedāś ca yajñāś ca tapo dānāni cānagha jīvābhaya-pradānasya na kurvīran kalām api

अर्थ: हे निष्पाप मुनि, समस्त वेदों का अध्ययन, यज्ञ-कर्म, कठोर तप तथा दान — ये सब मिलकर भी उस पुण्य के एक अंश के बराबर भी नहीं हो सकते जो किसी जीव को ईश्वर के सत्य की शिक्षा देकर जन्म-मृत्यु के भय से मुक्त करने से प्राप्त होता है। (स्कन्ध 3, अध्याय 7, श्लोक 41)



विदुर अपनी लम्बी जिज्ञासा को एक विचारोत्तेजक निर्णय के साथ समाप्त करते हैं: कोई भी वैदिक अध्ययन, यज्ञ अथवा दान उस पुण्य के समान नहीं हो सकता जो किसी एक जीव को जन्म-मृत्यु के भय से मुक्त करने से प्राप्त होता है (श्लोक 41)।

मैत्रेय का हर्ष

अध्याय का अन्तिम श्लोक पुनः श्रीशुकदेव गोस्वामी की कथा-वाणी का है। इतना अधिक पूछे जाने के पश्चात् — ऐसे प्रश्न जो पौराणिक परम्परा के सम्पूर्ण विस्तार को छूते हैं — मैत्रेय, जिन्हें यहाँ ऋषियों में श्रेष्ठ कहा गया है, न तो थकते हैं, न अभिभूत होते हैं। इसके विपरीत, श्रीशुक कहते हैं, भगवान् की कथा कहने के लिए जितना अधिक उन्हें प्रेरित किया जाता है, उनका हर्ष उतना ही बढ़ता जाता है; और इस प्रकार, मुस्कराते हुए, वे अपना उत्तर देना आरम्भ करते हैं।

श्रीशुक उवाच । स इत्थमापृष्टपुराणकल्पः कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः ।

प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां सञ्चोदितस्तं प्रहसन्निवाह ॥ ४२ ॥

śrī-śuka uvāca / sa ittham āpṛṣṭa-purāṇa-kalpaḥ kuru-pradhānena muni-pradhānaḥ pravṛddha-harṣo bhagavat-kathāyām sañcoditas taṁ prahasann ivāha

अर्थ: श्रीशुक ने आगे कहा: जब कुरुश्रेष्ठ विदुर ने मुनिश्रेष्ठ मैत्रेय से पुराण-विषयक प्रश्न पूछे, तब भगवान् की कथाएँ सुनाने के लिए प्रेरित किए जाने पर वे अत्यन्त हर्षित हुए, और मुस्कराते हुए इस प्रकार बोले। (स्कन्ध 3, अध्याय 7, श्लोक 42)



इतने विशाल प्रश्नों से थकने के बजाय, भगवान् की चर्चा करने के लिए जितना अधिक प्रेरित किया जाता है, मैत्रेय का हर्ष उतना ही बढ़ता है, और वे मुस्कराते हुए उत्तर देना आरम्भ करते हैं (श्लोक 42)।

इस एक पंक्ति के साथ — थकान के बजाय हर्ष, अनिच्छा के बजाय स्वागत — तृतीय स्कन्ध का सप्तम अध्याय समाप्त होता है। विदुर द्वारा यहाँ पूछे गए सभी प्रश्न इस अध्याय में अनुत्तरित ही रह जाते हैं; मैत्रेय का वास्तविक उत्तर, भगवान् की नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति से आरम्भ होकर, तत्काल बाद के अध्याय का विषय है।

इस अध्याय की मुख्य शिक्षाएँ

1. विनम्रतापूर्वक प्रस्तुत ईमानदार शंका आस्था की असफलता नहीं, वरन् गहन समझ का द्वार है। विदुर उस बात को चुनौती देते हैं जो उन्हें अभी सिखाई गई है, फिर भी वे इसे इस प्रकार करते हैं कि उनके गुरु अपमानित नहीं, वरन् प्रसन्न होते हैं — यह एक आदर्श है कि सच्ची जिज्ञासा भक्तिपूर्ण जीवन के भीतर होती है, बाहर नहीं (श्लोक 2-7)।
2. आत्मा का बन्धन अनुभव में वास्तविक है किन्तु सत्य में उसका कोई आधार नहीं। कटे हुए सिर का स्वप्न तथा कम्पित जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा — दोनों एक ही शिक्षा देते हैं: जो कष्ट पूर्णतः वास्तविक प्रतीत होता है, वह भी, मूल में, आत्मा की उस वस्तु से पहचान हो सकता है जो वह वास्तव में नहीं है (श्लोक 9-11)।
3. केवल विश्लेषण नहीं, भक्ति ही बन्धन के भ्रम को दूर करती है। मैत्रेय स्पष्ट कहते हैं कि शरीर के साथ आत्मा की मिथ्या पहचान केवल भगवान् की कृपा से सम्भव भक्ति से ही धीरे-धीरे लुप्त होती है — और भक्ति के सबसे सरल स्वरूप, अर्थात् भगवान् के गुणों के कीर्तन तथा श्रवण-मात्र, को भी हर प्रकार के दुःख का अन्त करने में सक्षम बताया गया है (श्लोक 12-14)।
4. मध्य में खड़ा व्यक्ति ही सबसे अधिक कष्ट भोगता है। न तो पूर्ण अज्ञान और न ही पूर्ण ईश्वर-साक्षात्कार दुःख लाता है; यह वह आंशिक जागरूकता की अवस्था है — पर्याप्त जाग्रत कि सन्देह करे, किन्तु पर्याप्त नहीं कि जान सके — जो वास्तव में कठिन है (श्लोक 17)।

5. एक सुयोग्य प्रश्न सम्पूर्ण शास्त्र की रूपरेखा बना सकता है। इस अध्याय में विदुर के चालीस प्रश्न — सृष्टि, मनुओं, वर्ण-आश्रमों, जीवन के चार लक्ष्यों, आत्मा के स्वरूप, तथा भगवान् को प्रसन्न करने के साधनों पर — वस्तुतः भागवत आगे जो कुछ सिखाएगा उसकी विषय-सूची बन जाते हैं (श्लोक 21-41)।

एक भक्तिपूर्ण चिन्तन

इस अध्याय के क्रम में एक शान्त शिक्षा छिपी हुई है। विदुर उन व्यापक ब्रह्माण्ड-विज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों से आरम्भ नहीं करते जो इसके उत्तरार्ध पर छाए हुए हैं; वे एक अकेली, व्यक्तिगत शंका से आरम्भ करते हैं — कि जिस भगवान् की वे उपासना करते हैं, वे दुःख या आवश्यकता से स्पर्शित कैसे प्रतीत हो सकते हैं। केवल उस शंका के समाधान के पश्चात् — केवल जब बन्धन तथा स्वतन्त्रता के विषय में उनकी अपनी उलझन “मानो तलवार से” काट डाली जाती है — तभी वे शेष सब कुछ पूछने के लिए स्वतन्त्र अनुभव करते हैं: मनु, ग्रह, वर्ण, गुरु का प्रयोजन, उपनिषदों का अर्थ। यह आकस्मिक नहीं है। भागवत, इस संवाद की संरचना के माध्यम से ही, यह सिखा रहा प्रतीत होता है कि सबसे गहन तात्त्विक तथा ब्रह्माण्ड-विषयक ज्ञान तभी सचमुच उपयोगी बनता है जब हृदय की भगवान् के स्वरूप के विषय में अपनी उलझन पहले सुलझ चुकी हो। विदुर किसी भी समय मनुओं तथा प्रजापतियों के विषय में पूछ सकते थे; वे तब तक प्रतीक्षा करते हैं जब तक वे यह न समझ लें कि उनका अपना बन्धन एक स्वप्न था, तथा भगवान् की स्वतन्त्रता कभी सन्देह के योग्य ही नहीं थी। तभी विस्तृत ब्रह्माण्ड जिज्ञासा के योग्य कुछ बन जाता है — भक्ति से बचने के मार्ग के रूप में नहीं, वरन् उसके स्वाभाविक विस्तार के रूप में।

एक दैनिक भक्ति-अभ्यास

आज, अपने ही जीवन में उस स्थान को पहचानिए जहाँ एक छोटी, व्यक्तिगत शंका किसी बड़े प्रश्न को चुपचाप रोक रही है जिसे आप अन्यथा पूछना चाहते — अपने उद्देश्य, अपने सम्बन्धों, अथवा अपने ही दुःख के विषय में। बड़े प्रश्न की ओर सर्वप्रथम बढ़ने के बजाय, विदुर के उदाहरण का अनुसरण कीजिए: छोटी, अधिक ईमानदार शंका को प्रकाश में लाइए, चाहे वह कितनी भी सरल क्यों न प्रतीत हो, और जब तक कुछ स्पष्टता न आए, उसके साथ बैठिए। अपने दिन में लौटने से पहले, रुककर धीरे से दोहराइए: “ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।” उस स्मरण को उसी प्रकार भ्रम की गाँठ ढीली करने दीजिए जैसे मैत्रेय के मुस्कराते धैर्य ने विदुर की गाँठ ढीली की, ताकि उसके नीचे प्रतीक्षारत प्रश्न, अपने समय पर, पूछे तथा उत्तरित हो सकें।

निष्कर्ष

तृतीय स्कन्ध का सप्तम अध्याय, ऊपरी दृष्टि से, लगभग पूर्णतः प्रश्नों से बना अध्याय है — पहले अपरिवर्तनीय भगवान् के आभासी बन्धन तथा क्रीड़ा के विषय में विदुर की एकल, व्यथित शंका, फिर, जब मैत्रेय के सौम्य तर्क के अन्तर्गत वह शंका विलीन हो जाती है, अस्तित्व की लगभग सम्पूर्ण संरचना को छूने वाले चालीस आगे के प्रश्नों की एक असाधारण बाढ़। फिर भी इस अध्याय में कुछ भी उद्देश्यहीन प्रतीत नहीं होता। विदुर द्वारा पूछा गया प्रत्येक प्रश्न स्वयं में एक भक्ति-कार्य है — उस भगवान् को अधिक पूर्णता से जानने की इच्छा जिनकी महिमा मैत्रेय पहले ही प्रकट करना आरम्भ कर चुके हैं। माया के दर्शन तथा कटे सिर के स्वप्न के पीछे, अभी आने वाले मनुओं, प्रजापतियों तथा वर्णों की लम्बी सूची के पीछे, वही शान्त धारा प्रवाहित होती है जो भागवत के प्रत्येक अध्याय में बहती है: समझने की एक शिष्य की भूख, जिसे उत्तर देने में गुरु का अक्षय्य हर्ष मिलता है। अध्याय के अन्त में मैत्रेय का हर्ष स्वयं में आगे आने वाली उस प्रतिज्ञा का प्रतीक है — कि सच्ची विनम्रता से पूछा गया कोई भी प्रश्न, चाहे कितना भी विशाल हो, ऐसे गुरु को कभी थका नहीं सकता जिनका एकमात्र वास्तविक विषय स्वयं भगवान् है।

श्रीमद्भागवतम् का दिव्य ज्ञान हमारे हृदयों में शुद्ध भक्ति जागृत करे।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

जय श्री माधव।

सन्दर्भ तथा आभार

- मूल संस्करण: गीता प्रेस, श्रीमद्भागवत महापुराण (अंग्रेज़ी, सम्पूर्ण), तृतीय पुस्तक, सप्तम अध्याय, पृष्ठ 160–164।
- शृंखला: श्रीमद्भागवतम् विज्ञम · बिस्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट।
- पण्डित डॉ. श्री काशीनाथ मिश्र के आध्यात्मिक मार्गदर्शन तथा अनुशंसा के अनुसार प्रस्तुत।

यह लेखक के अपने शब्दों में एक मौलिक, निष्ठावान पुनर्कथन है, जिसमें संक्षिप्त उद्धृत श्लोक देवनागरी तथा लिप्यन्तरण में दिखाए गए हैं और उनके अर्थ सार-रूप में दिए गए हैं। यह किसी भी प्रकाशक के सतत अनुवाद अथवा टीका की प्रतिलिपि नहीं है। किसी भी प्रकाशक के साथ सम्बद्धता अथवा समर्थन का कोई संकेत नहीं है।



ऑनलाइन पढ़ें: kalkiabatara.org/hi/blog-srimad-bhagavatam-canto-3-chapter-7-viduras-questions-hi.html

श्रीमद्भागवतम् विज्ञम · कल्कि अवतार इंटरनेशनल · बिस्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट